उपसंहार

'आदिवासी' शब्द दो शब्दों '*आदि*' और '*वासी*' से मिलकर बना है, इससे अभिप्राय आदिकालीन 'मूल निवासी' से है ।संविधान में आदिवासियों के लिए अनुसूचित **जनजाति** पद का प्रयोग किया गया है । ये तो हुई पारिभाषिक शब्दावलियों के अनुसार आदिवासी शब्द की परिभाषा, सामान्य तौर पर अगर देखा जाय तो आदिवासी अपनी संस्कृति, सभ्यता, परंपरा को संजो के रखने वाले अपने निवास स्थान पर अपनी ही शर्तों पर जीवन यापन करने वाले लोग हैं। जिनपर अभी आधुनिक हो जाने और विकास की दौड़ में शामिल हो जाने का कोई लालच नहीं है।

आदिवासी से मेरा अभिप्राय तो यही है कि जो अपने संस्कृति को बचाए, त्यौहार, पर्व (परब), लोक नृत्यों का लुफ्त उठाते हुए कबिलाई जीवन यापन करते हैं । जो सामंती जीवन से लड़ते अपने अस्तित्व को बचाएँ हुए हैं । आदिवासी की कोई परिभाषा नहीं दे सकता। किसी भी जीवित इंसान को कोई उसे परिभाषित कर सकता है। ये सब उनके लक्षण हो सकते हैं परिभाषा नहीं। वैसे भी उनको किसी परिभाषा की जरूरत नहीं है। आज इतने बड़े विमर्श के रूप में हमारे सामने उपस्थित है, अनगिनत शोधार्थियों के शोध का विषय है उसे किसी परिचय का जरूरत नहीं।

रेमंड फर्थ के अनुसार आदिवासी समुदाय विशेष एक ही भाषा-भाषी हैं तथा एक प्रकार की परम्पराओं व संस्थाओं का पालन करता है और एक ही सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है 'सरकार' शब्द का प्रयोग थोड़ा अटपटा है। आदिवासी समाज में हस्तक्षेप केंद्र और राज्य सरकार करती हैं यह प्रत्यक्ष रूप से देखने को मिलता है वरना भारत की परंपरागत पंचायती व्यवस्था के समकक्ष कबिलाई संस्कृति यहाँ मिलती है।

भारत में आदिवासियों की कई जातियाँ पाई जाती हैं। जिनमें से मुंडा जाति मेरे शोध के केंद्र में है । भारत में मुंडा समाज के लोग दक्षिणी बिहार, उड़ीसा, बंगाल और मध्यप्रदेशों में पाये जाते हैं। मुंडा असम के चाय बगानों और अंडमान निकोबार द्वीप समूहों में मिलते हैं। जहां वे मजदूरों के रूप में स्वेच्छासे गए थे। पिछले कई वर्षों से वे जगह-जगह से विस्थापित हो रहे हैं । लेकिन मुंडा समाज के आदिवासियों का गढ़ झारखंड के दक्षिणी छोटानागपुर का कमिश्नरी का राँची जिला है।

2001 की जनगणना के अनुसार आदिवासियों की संख्या 8.43 करोड़ है । जिसमें मुंडा छठे स्थान पर आते हैं। मुंडा आदिवासी प्रोतोअस्टेलायड परिवार से सम्बंधित हैं और ये आस्ट्रो एशियाटिक परिवार की भाषा मुंडारी बोलते हैं । वे सदानी भाषा भी बोल लेते हैं । उनके समाज में प्रत्येक गाँव का एक मुखियाँ होता है । उसकी पंचायत 'पट्टी' कहलाती है उनके पंचायत का प्रमुख मानकी कहलाता है। मुंडा समाज में मानकी के पद वंशानुगत होते हैं । वंश का ही कोई व्यक्ति मानकी बनाया जाता है। उनकी कही हुई बातें ही सर्वश्रेठ होती है देवता के समान जिसे सब आदर से स्वीकार करते है।

'जंगल के दावेदार' और 'गायब होता देश' उपन्यासों में आदिवासी मुंडा समाज का चित्रण है । एक 1900 के ब्रिटिश साम्राज्यवाद की दास्तान सुनाता है तो दूसरा 2014 के आदिवासी मुंडा समाज के स्वरूप को दर्शाता है । दोनों उपन्यासों की सामाजिक पृष्ठभूमि में काल के अनुसार बड़ा अंतर आ गया है । बीरसा के समय में एक परंपरागत आदिवासी मुंडा समाज का चित्र उकेरा गया है, दूसरी तरफ भूमंडलीकरण और आधुनिकीकरण का जाल बनाम मुंडा समाज है । दोनों उपन्यासों के आधार पर समाज के मानदंड बदलने के साथ समस्याओं में भी परिवर्तन आया है। बीरसा का सपना भात खाना है और रणेन्द्र के उपन्यास का आदिवसी कुर्सी के लिए इच्छा प्रकट करता है।

आदिवासी मुंडा समाज के धर्म और जमीन से जुड़ी संस्कृति के सुंदर दृश्य हमें उपन्यास में जहां तहां दिखाई देते हैं। आदिवासियों का धर्म जो प्राकृतिक धर्म है, जंगल के दावेदार में भी वह खतरे में था और आधुनिक समय के उपन्यास गायब होता देश में भी खतरे में है। आदिवासियों ने प्रकृति, जंगल, ऊर्जा के नवीकरणीय और अनवीकरणीय स्रोतों के महत्व को जानकर उन्हें पूजना शुरू किया। भागवत धर्म के नायक कृष्ण भी इसके समर्थक हैं, गोवर्धन पूजा इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है, परंतु अल्पसंख्यक होने का दंश हर संप्रदाय और धर्म को झेलना पड़ता है। जिस प्रकार धार्मिक रूप से आदिवासी मुंडा समाज प्रकृति से जुड़ा हुआ है सांस्कृतिक रूप से भी प्रकृति से जुड़ा है। हर त्योहार उत्सव को लोकरंगों से सजोना लोकनृत्य, लोककथा आदि का मनमोहक प्रयोग इन्हें सुंदर अभिव्यक्ति प्रदान करता है। परंतु यह संस्कृति और प्राकृतिक अवलंबन करने वाले समाज की अस्मिता खतरे में है।

दोनों उपन्यासों, जंगल के दावेदार और गायब होता देश में राजनीति और प्रशासन के भिन्न स्वरूपों के दर्शन होते हैं। एक तरफ औपनिवेशिक भारत का चित्र है जिसमें आदिवासियों का दोहरा शोषण होता है। सामंत, साहूकार, महाजन, और अंग्रेजी सरकार शोषण की हद कर देते हैं। गायब होता देश में वर्तमान राजनीति और प्रशासन की तस्वीर उकेरी गई है। जिसमें राजनीति का बाजारीकरण कर दिया गया है। मीडिया से जवाबदेही बड़ी है परंतु स्वार्थ सिद्धि के क्षेत्रों में कमी नहीं हुई है। नियम-कानूनों से अंजान आदिवासी समाज आज भी शोषण का शिकार हो रहा है। क्योंकि असल में उसे उसके हित का ज्ञान नहीं है। उसे नहीं पता सरकार और संविधान ने उनके लिए क्या नियम बनाए हैं।

वहीं जंगल के दावेदार में जमींदारों, अंग्रेजों और वहाँ के आला-अफसरों द्वारा जंगल पर कब्जा किए जाने से आदिवासी पीड़ित थे। ये विरोध करे तो भी कहाँ करें कानून के नाम पर इन्हें ठेंगा दिखा दिया जाता है। कानूनी दांव-पेच खेलकर इनकी ज़मीनों का सौदा कर दिया जाता है और इन्हें पता भी नहीं चलता। उनकी जमीन पर कभी कोयला निकल आता है तो

कभी यूरेनियम, कभी विशाल उद्योग धंधों के कारण कभी बांध-पुल बनाने के लिए, इन्हें अपने स्थान से विस्थापित ही होना पड़ता है। रणेन्द्र के 'गायब होता देश' में भी विस्थापन और भूमि की समस्या से जूझते आदिवासियों को दिखाया गया है। जैसा कि इस उपन्यास के शीर्षक से ही पता चल रहा है कि इसमें कई समस्याओं के साथ-साथ जमीन और विस्थापन की समस्या को भी केंद्र में रखा गया है। इस उपन्यास के पूर्वकथन में ही रणेन्द्र विस्थापन के कारण आ रही समस्या को मुख्य समस्या के रूप में दिखाने की कोशिश करते हैं।

सभ्यता के आरम्भ से ही आदिवासी समाज जंगलों तथा पहाड़ों में रहता आया है। मुख्य धारा के समाज से उनका संपर्क न के बराबर रहा है। धीरे-धीरे तकनीक बढ़ी और आदिवासियों का अलगाव समाप्त होने लगा, परिणाम स्वरूप इनके जमीनों पर बाहरी हस्तक्षेप बढ़नें लगा। भारतीय समाज का अलग थलग पड़ा यह हिस्सा अपने 'कल्चर' को अपनी अनोखी मान्यताओं, संस्कारों, रीति-रिवाजों को जीवित रखते है। जब-जब बाहरी शक्ति बढ़ी इनकी अस्मिता को जो कि इनके अस्तित्व से जुड़ा हुआ है पूर्ण नष्ट करने की कोशिश की गई है।

पूरे शोध का असली उद्देश्य उपन्यास में अभिव्यक्त आदिवासी जीवन की चिंताओं का वर्णन है। अब सवाल यह उठता है कि आदिवासियों की असली चिंता क्या है जो उपन्यास को प्रासंगिकता और औपचारिकता प्रदान कर सके। एक उपन्यास 1900 के विद्रोह की कथा कहता है, जब भारत स्वयं एक उपनिवेश था। दूसरी तरफ रणेन्द्र का उपन्यास आज के आदिवासी और उसके इर्द-गिर्द समाज का वर्णन करता है। उपनिवेश भारत से लेकर आज के आधुनिक कहे जाने वाले स्वतंत्र भारत में, जब आदिवासियों को जंगल छोड़ने पर मजबूर कर दिया है, यहाँ भी आदिवासियों का अस्तित्व और अस्मिता खतरे में है। दोनों उपन्यासों में प्रमुख समस्या जमीन की है। बीरसा भी अपनी जंगल माँ को लेकर हमेशा चिंता में रहा करता था और इसी माँ के लिए उसने उलगुलान की अलख जगाई और विद्रोह किया, देश के

स्वाधीनता संग्राम में यह एक बहुत सक्रिय भूमिका निभाने वाला विद्रोह है, भले ही इतिहास के पन्ने इस संबंध में मौन हैं। 'गायब होता देश' की प्रमुख समस्या भी देश या जमीन से जुड़ी हुई है। जहां 'रियल एस्टेट' का कारोबार जंगलों को चबा रहा है। भूमंडलीकरण और पूंजीवाद के चलते किस प्रकार देश एक अलग ढंग का उपनिवेश बन रहा है, यह इस उपन्यास का वर्णय विषय है। यह माना जाता है कि, साहित्य समाज का दर्पण होता है इस शोध के दौरान दोनों उपन्यासों के विश्लेषण से एक बात उभर कर सामने आती है कि जो समस्या 1978 में महाश्वेता देवी जी वर्णित कर रही थी वह कमोवेश रणेन्द्र के यहाँ भी विद्यमान है। प्रगटन का तरीका अलग हो सकता है लेकिन दोनों उपन्यासकार अपने उपन्यासों के माध्यम से नई व्यवस्था का विरोध ही दिखाने का प्रयत्न किया है मेरा भी यही मानना है कि विकास का नया तरीका देखने में कितना भी आकर्षित लगे लेकिन यह एक धरोहर को सहेजने में असफल ही रहेगा।